दृश्य-संस्कृति के बहाने सभ्यता-विमर्श

संत समीर

देखना-दिखना-दिखाना रोज़मर्रा की ज़िंदगी का अनिवार्य हिस्सा है। अगर आप किसी दृष्टि-दोष से ग्रस्त नहीं हैं तो यह इतनी आमफ़हम बात लगती है कि इस पर किसी विमर्श की कोई ज़रूरत महसूस ही नहीं होती। भारतीय समाज में दृश्य-संस्कृति की एक समृद्ध थाती है, पर किसी लिखित या मौखिक विमर्श का अभाव है। समय-संदर्भों में दृश्य जगत् के दायरे का विस्तार या संकुचन होता रहा है; सामाजिक रुचियाँ, अनुभव और प्रभाव क्षेत्र बदलने के साथ उकेरी गयी दृश्यावलियाँ भी बदलती या बनती-बिगड़ती और सँवरती रही हैं; परंतु इनके बीच से उभरने वाले सभ्यता-विमर्श को अनदेखा किया जाता रहा है। कोई अव्यक्त-सा विमर्श हमारे या कहें लोक मानस में निरंतर चलता भी रहा है, तो छिटपुट चर्चाओं के अलावा आधुनिक समाज-विज्ञान ने इसका कभी कोई नोटिस नहीं लिया। वास्तव में प्राचीन से लेकर अर्वाचीन ग्रामीण और नागर-संस्कृति में तमाम कला-अभिव्यक्तियाँ महज़ मनोरंजन या एकांगी उद्देश्यों को लक्षित दृश्यावलियाँ ही नहीं हैं, वे ख़ुद के भीतर सभ्यतागत पहचानों और मूल्यों को समेटे हुए ऐसी छवियाँ भी हैं, जिनके देखे जाने के बाद का अनुभव एक अलग क़िस्म के समाजशास्त्रीय अध्ययन और दस्तावेज़ीकरण की माँग करता है।

सदन झा की नयी पुस्तक *देवनागरी जगत् की दृश्य संस्कृति* दरअसल दृश्य-संस्कृति के बहाने एक गम्भीर सभ्यता-विमर्श प्रस्तुत करती है, जो इस देखे जाने की क्रिया को अध्ययन का विषय बनाने की अपील-सी करती दिखाई देती है। सदन झा भूमिका में लिखते हैं, 'देखना एक क्रिया है जैसे

देवनागरी जगत् की दृश्य संस्कृति (2019)
सदन झा
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
पृष्ठ : 206, मूल्य : 595 रुपये

सुनना, चलना और सूँघना। समाज-विज्ञान में हम इनके बारे में बात नहीं करते। कम-से-कम भारत में इन क्रियाओं से जुड़े शोधों की संख्या बहुत कम है। अधिक-से-अधिक ये हमारे उदाहरणों का हिस्सा ही बनते हैं।'

लेखक की चिंता इस बात को लेकर है कि भारतीय समाज-विज्ञान में विचारधाराओं का वर्चस्व रहा है, जिसके चलते राजनीति के समाज-विज्ञान के प्रति हमारी समझ की गहराई तो बढ़ी है, पर ज्ञान और मीमांसा में इससे उथलापन ही आया है। सौंदर्य-शास्त्र और कला-विमर्श में कुछ महत्त्वपूर्ण काम हुए हैं, पर वहाँ भी देखने की क्रिया के अनुभवों की बात ग़ायब है। लेखक अपने निबंधों में देखने के उस उस विशिष्ट अनुभव की बात करते हुए दृश्य-संस्कृति में विज़ुअल मीडिया के बढ़ते वर्चस्व और महज़ उत्पाद के रूप में चित्रकला, फ़ोटोग्राफ़ी, कार्टून, सिनेमा वग़ैरह को व्याख्यायित और रेखांकित किये जाने के साथ चित्रों के बनने के तकनीकी इतिहास या इनके बाज़ार का इतिहास मात्र बनकर रह जाने के दायरे के पार चित्रों के ज़रिये उभरनेवाली सभ्यतागत अनुभूतियों को दर्ज करने की पहल करते हैं।

देवनागरी जगत् की दृश्य संस्कृति में कुल नौ निबंध संग्रहीत हैं, जो बीते पंद्रह वर्षों में विभिन्न अवसरों पर लिखे गये हैं। इनके शीर्षकों पर ग़ौर करें तो इनमें ही देखने की क्रिया के एक नये रोचक, लेकिन गम्भीर समाजशास्त्रीय विमर्श के संकेत मिलने लगते हैं। ये नौ ही हैं, इसलिए इन्हें यहाँ दर्ज किया जा सकता है—संतोष रेडियो ने गढ़े इंसानी रिश्ते (1980 का दशक और उपभोक्ता संस्कृति); मामूली राम की दिल्ली (आर्काइव का शहर और शहर का आर्काइव); भीड़, जनसमुदाय और राजनीति; शहर की देह पर अक्षराघात; सड़क की आँखें, शहर की कहानी; देखने की राजनीति (भारत का झण्डा और आस्था की नज़र); एक नयी भाषा का उदय: देवनागरी जगत् में देखना और दिखाना (1850 से 1930 तक); समय के बदले जगह और राष्ट्र के बदले प्रांत (रेणु और आधुनिक आंचलिकता); विभाजन की सिनेमाई ज़मीन (खोया हुआ और बरामद आत्म)।

सदन झा कोई दावा नहीं करते कि वे इन निबंधों में दृश्य-संस्कृति के समाजशास्त्रीय अध्ययन की कमियों की भरपाई कर रहे हैं, बल्कि वे कहते हैं कि वे विमर्श के लिए ज़रूरी छोटे-मोटे रुझानों की ओर इशारा भर कर रहे हैं। बहरहाल, उनके छोटे इशारों में विमर्श की बड़ी सम्भावनाएँ मौजूद हैं, भारत जैसे देश में तो और भी, जहाँ 'दर्शन' जैसा गम्भीर पारिभाषिक शब्द भी देखने की स्थूल चाक्षुष क्रिया से निकल कर मन के धरातल पर अगोचर को व्यक्त करने का उपकरण बन गया है। बचपन में देखे बिहार के एक ख़ास अँचल में घर-घर में पैठ बनाए जिस संतोष रेडियो को सदन झा विमर्श का प्रस्थान-बिंदु बनाते हैं, उसकी व्याप्ति देश के बहुत बड़े भू-भाग तक है और संकेतात्मकता तो ख़ैर राष्ट्रीय है। सदन झा मिथिलांचल के अपने अनुभव बयान करते हैं, पर वे दिन हम-आप भी याद कर सकते हैं, जब शादी-ब्याह में घड़ी, रेडियो, साइकिल, अँगूठी, सोने की ज़ंजीर दहेज का विशिष्ट हिस्सा हुआ करते थे। रेडियो, साइकिल धीरे-धीरे वैवाहिक रस्म अदायगी के पूरे परिदृश्य में लगभग विलोप को प्राप्त होते गये, लेकिन घड़ी, अँगूठी, सोने की ज़ंजीर आभूषण की शक्ल में अपनी अर्थवत्ता अब

तक बनाए हुए हैं। सत्तर-अस्सी के दशक के इस परिदृश्य में संतोष रेडियो के ज़रिये सदन झा सामाजिक संरचना में गहरे प्रवेश करते हैं। एक समय था कि निम्न तबक़े में दूल्हे को दहेज में रेडियो हमेशा नसीब नहीं होता था। संतोष रेडियो ने सस्ते होने की वजह से समाज के सभी तबक़ों के दहेज के सामानों में अपनी पैठ बनायी। लेखक बयान करते हैं, 'संतोष रेडियो ने निम्न सामाजिक तबक़ों के बीच पहली बार क्षेत्रीय और राष्ट्रीय सुरों को एक साथ एक ही क्षण में उपस्थित करने की ज़मीन बनायी। समाचार सुनने की अहमियत बढ़ने लगी। पहले जहाँ रेडियो सुनना एक सामूहिक कार्य हुआ करता था, वहीं अब यह व्यक्तिगत और दैनिक व्यक्तिगत पसंद-नापसंद की गतिविधियों के रूप में नज़र आने लगा।' वास्तव में संतोष रेडियो की मौजूदगी और बदलते परिदृश्य में उसके अतीत का हिस्सा बनते जाने के रोचक वर्णन में एक पूरे दौर के सामाजिक ताने-बाने के कई अनदेखे रेशों को लेखक बड़े महीन ढंग से पकड़ते हैं।

'मामूली राम की दिल्ली' में सदन झा अभिलेखागार के पन्नों से गर्द झाड़ कर हमें कुछ ऐसी दृश्यावलियों से रूबरू कराते हैं, कि दिल्ली के सामाजिक मानस का भूगोल हमारे सामने मूर्त हो जाता है। यहाँ 1961 का दिल्ली का मास्टर प्लान है, शहरी नियोजन से संबंधित योजनाएँ हैं; तो होली के रसीले गीत और लुगदी साहित्य भी। सन् 1940 में *द हिंदुस्तान टाइम्स* में छपी 'कुँवारी दुलहन एक विवाहित महिला निकली' ख़बर के उदाहरण से लेखक इस बात की शिनाख़्त का संकेत देते हैं कि समय के साथ एक शहर के लिए महत्त्वपूर्ण ख़बरों की सूचियाँ किस तरह बदल जाती हैं। '1828 की दिल्ली डायरी' से वे दिलचस्प प्रसंग उठाते हैं कि कैसे नवाबों को राजा ने पालकी में बैठकर जाने की छूट दी, और कि किसी ने पगड़ी पहनी तो वह भी 'दिल्ली डायरी' का हिस्सा बन गयी। किताब किराने की पर्ची की इबारतों के सहारे भी उस दौर की दिल्ली के रहन-सहन के सामाजिक जुगराफ़िया को सामने लाती है। तीन-चार दशक पहले का दौर देख चुके तमाम लोगों के लिए याद करना ज़्यादा मुश्किल नहीं है कि कैसे सिनेमा की खिड़की पर ज़रा देर से पहुँचने पर या नयी फ़िल्म लगने के पहले-दूसरे दिन टिकटों की ब्लैक मार्केटिंग करने वालों से सामना होता था। लेखक इन ख़बरों के सहारे समाज को देखने-समझने का अद्भुत विमर्श खड़ा करते हैं। सड़क के पोस्टर, जगह-जगह लगे निशान, दीवारों पर चस्पाँ लिखावट—ये सारी दृश्यावलियाँ टुकड़ों-टुकड़ों में होकर भी लेखक को, देखने और देखकर महसूस करते हुए मामूली राम की दिल्ली के अभिलेखागार के लिए समृद्ध सामग्री उपलब्ध कराती हैं।

'भीड़, जनसमुदाय और राजनीति' में सदन झा चारुदत्त और वसंतसेना के प्रेम के लिए विख्यात *मृच्छकटिक* नाटक में भीड़ के उस चेहरे की शिनाख़्त करते हैं, जो प्राचीन या मध्यकाल में सम्भवतः पहली बार सत्ता समीकरण को बदलने में सक्रिय भूमिका निभाते दिखाई देता है। भीड़ की मानसिकता की पहचान का अब तक का चला आया एकांगी दृष्टिकोण भी यहाँ खण्डित होता नज़र आता है। भीड़ का मतलब हमेशा एक नकारात्मक समूह नहीं होता या भीड़ हमेशा वैसी नहीं होती जैसा हम उसे समझते आये हैं। एक उदाहरण, जो गाँधी के सपनों में था, पर अपने जीवनकाल में जिसे वे ख़ुद कभी भारत में देख नहीं सके, उसे अन्ना आंदोलन के समय 2011 में हम सबने देखा। समाज-विज्ञानियों, बुद्धिजीवियों और सरकारी समझदारों की तमाम भविष्यवाणियों, अटकलों को इस आंदोलन की भीड़ ने झुठला दिया और ख़ुद को अंत तक पूरी तरह अहिंसक बनाए रखा। लेखक अन्ना आंदोलन में इकट्ठा हुए विशाल जन-समुदाय के ज़रिये भीड़ के उस पहलू की पहचान करते हैं, जिसे हमेशा सरलीकृत और एकीकृत वैचारिक रुझानों के हिसाब से ही नहीं समझा जा सकता।

'शहर की देह पर अक्षराघात' निबंध में लेखक जगह-जगह दीवारों, बस की सीटों, गाड़ियों के आगे-पीछे चिपके शेरो-शायरी वग़ैरह के स्टिकरों की इबारतों में समाज के मनोविज्ञान, सामाजिक संरचना की पहचान करते हुए दृश्य-जगत् की राजनीति पर ज़रूरी संवाद करते हैं। उन्होंने बस में

यात्रा करते हुए ख़ुद के देखे एक अदना-से नज़ारे का ज़िक्र किया है, जिसे हम अकसर देखकर अनदेखा करते रहते हैं। बस में महिलाओं वाली सीट के ऊपर लिखे 'महिलाएँ' में से किसी ने बड़ी मेहनत से 'म' अक्षर को मिटा दिया है, यानी जहाँ-जहाँ 'महिलाएँ' लिखा होता है, वहाँ-वहाँ अब 'हिलाएँ' दिख रहा है। सदन झा इसका दिलचस्प, लेकिन गम्भीर पाठ कुछ यों करते हैं— 'यहाँ यह ख़याल रखना ज़रूरी है कि सरकार और राज्य, दोनों ही को एक विचारधारा में पुरुषवादी माना गया है और किसी भी तरह का आरक्षण (महिलाओं के लिए) नारीवादी प्रतिरोध और पुरुषवादी राज्य के बीच समझौते के तौर पर हमारे सामने आता है। इस नज़रिये से 'म' का खुरचा जाना पुरुष और महिला सत्ताओं के बीच प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं होकर एक त्रिकोणीय लड़ाई में तब्दील हो जाता है—महिला बनाम पुरुष जन स्थान और पुरुषवादी राज्य।'

इससे भी आगे बात देह-विमर्श तक जाती है। गाड़ियों में चिपके 'तितली उड़ी बस में चढ़ी सीट ना मिली; ड्राइवर ने कहा आ जा मेरे पास लड़की ने कहा हट बदमाश!' या 'फूल डाली में होते हैं मगर चमन का नाम होता है; गुनाह लड़की करती है मगर ड्राइवर बदनाम होता है।'....जैसे भौंडे स्टिकरों में लेखक लैंगिक वृत्तों की पहचान के साथ इनमें मौजूद कला-रूपों को भी गहराई से समझने का आह्वान करता है। दिल्ली विश्वविद्यालय से गुज़रने वाली एक सड़क अपनी 'रंगीनी' के कारण शहर के मजनुँओं की सैरगाह है। यहाँ के पेड़ों पर 'एबार्शन' लिखी प्लेटों की एक तस्वीर पुस्तक में दी गयी है। आख़िर ये प्लेटें क्या संकेत करती हैं? इस कॉलेज के बारे में वह कौन-सी पुरुषवादी सोच काम कर रही है, जिसने इस सड़क को इस तसवीर की सबसे नज़दीकी पृष्ठभूमि प्रदान की? एबार्शन करने वालों के द्वारा इस जगह का चुनाव क्यों? ऐसे सवालों के ज़रिये लेखक जन-संस्कृति के अध्ययन में निहित कई अलग तरह के सिरों की ओर संकेत करता है।

'सड़क की आँखें, शहर की कहानी' में आप दिल्ली की सड़कों, गली-कूचों में फैले शहर के जुगराफ़िया का सांस्कृतिक वितान देख सकते हैं। यहाँ सड़कें हैं, उनके किनारे की इमारतें हैं, शहर के बाशिंदों की ज़िंदगी है। यह निबंध सड़क की ऐसी कहानी है, जिसमें लेखक की आँख से सड़क अपने शहर को देखती है। सड़क के बहाने इतिहास के कई कम चीन्हे संदर्भ प्रामाणिक रूप में यहाँ मौजूद हैं, जो पूरी तथ्यात्मकता के साथ पाठक को सभ्यता-विमर्श में उतारते हैं। 'देखने की राजनीति : भारत का झण्डा और आस्था की नज़र' में भारतीय तिरंगे झण्डे के राष्ट्र के एक प्रतीक के रूप में आकार लेने की कहानी का विमर्श है। सामान्यत: तिरंगे झण्डे के बारे में चर्चा करना राष्ट्र या राष्ट्रवाद के विमर्श में उतरना माना जाता रहा है, पर सदन झा तिरंगे की जाँच-पड़ताल में एक राष्ट्र और उसके प्रतीक के बीच के फ़र्क़ को रेखांकित करते हैं। तिरंगे पर उनकी दृष्टि एकांगी नहीं हैं, वे उसके पार्श्व की उन तमाम घटनाओं-परिघटनाओं का ऐतिहासिक परिदृश्य खँगालते हैं, जहाँ से झण्डे के देखे जाने में एक राष्ट्र की संकल्पना से जुड़े मूल्यों, मान्यताओं, आस्थाजन्य स्थापनाओं की विविध छवियाँ आकार लेती दिखाई देती हैं। झण्डे के इतिहास की पड़ताल करते हुए लेखक ने संविधान सभा की बहस के बहाने कई अंतर्विरोधों के साथ बाह्य-विरोधों का भी ज़िक्र किया है। गाँधी का वह विरोध रोचक संकेत पैदा करता है, जिसमें उन्होंने तिरंगे से चरख़े के प्रतीक को हटाए जाने पर नाराज़गी जताई थी। बहरहाल, झण्डा संहिता और नैशनल ऑनर एक्ट से होते हुए आप झण्डे का अर्थ, रंगों के निहितार्थ, स्वतंत्रता संग्राम में भारतीय जनाकांक्षा व ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ़ झण्डे की भूमिका की पहचान कर सकते हैं।

'एक नयी भाषा का उदय : देवनागरी जगत में देखना और दिखाना' निबंध में देवनागरी में भाँति-भाँति के साहित्य की छपाई के शुरुआती समय से लेकर अलग-अलग कालखण्डों की ऐतिहासिक पड़ताल करते हुए एक लिपि को देखे जाने का आख्यान मिलता है। लेख इस बात को रेखांकित करता है कि कैसे उत्तरोत्तर नागरी और फ़ारसी का विवाद नागरी और उर्दू के विवाद और फिर हिंदी और

उर्दू के विवाद के रूप में साम्प्रदायिक और भाषाई रंगों के साथ गहराता गया। निबंध यह ज़रूरी सवाल उठाता है कि जब साहित्य में लिपि, जिसे देखकर ही पढ़ा जा सकता था या फिर सुनकर ग्राह्य किया जा सकता था और साहित्य का प्रदर्शन और लिपि से भी नाता रहा, तो फिर साहित्य और इसके इतिहास में हम देखने की क्रिया को शामिल क्यों नहीं करते? भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे अन्यान्य साहित्यिक विभूतियों के कामों से होते हुए *रामचरितमानस* वग़ैरह के विज्ञापनों और भूगोल तक के पढ़न-पाठन में देवनागरी जगत के इतिहास को देखने के भाव से देखना और विश्लेषण करना दिलचस्प है।

आख़िरी दो निबंधों का ताना-बाना साहित्य के साथ सिनेमाई ज़मीन पर बुना गया है। बात *मदर इंडिया* के गाँवों से निकलकर सुमित्रानंदन पंत की कविताओं से होते हुए *परती परिकथा* और *मैला आँचल* के फणीश्वरनाथ रेणु के रचना-कर्म में गहरे उतरती है। यहाँ प्रेमचंद, राही मासूम रज़ा, नागार्जुन और अमृतलाल नागर जैसे रचनाकारों के गाँव मौजूद हैं ... और इस परिदृश्य में रेणु के आंचलिक वर्णनों से गुज़रते हुए लेखक लीक से हटकर कुछ अलग दृश्य-छवियाँ सामने लाते हैं। *तीसरी क़सम* के हीरामन और हीराबाई के बीच बैलगाड़ी को विश्लेषणात्मक फ्रेम का हिस्सा नहीं बनाए जाने की आलोचकों की चूक को लेखक गहरे संकेतों के साथ पहचानते हैं। रेणु की शिनाख़्त यहाँ प्रचलित आलोचनाओं से अलग हटकर है, जहाँ कि वे समय-केंद्रित आधुनिकता के दायरे के पार निकलते दिखाई देते हैं। आख़िरी निबंध में गोविंद निहलाणी निर्देशित *तमस* के फ्रेम में विभाजन का परिदृश्य है; मनमोहन देसाई निर्देशित *छलिया* के बहाने पीछे छूट गये घर और नये घर के रूमानी सपनों का दृश्य है। *लाहौर, अमर रहे यह प्यार, गदर : एक प्रेमकथा* और *अर्थ* जैसी फ़िल्मों के ज़रिये सिनेमाई धरातल पर विभाजन के बदलते दृश्यों को पकड़ने की कोशिश जिज्ञासा जगाती है।

किताब इस बात को मज़बूती से स्थापित करती है कि समय के बदलते प्रवाह में अलग-अलग कालखण्डों में दृश्यात्मक मानव निर्मितियाँ महज़ दृश्य भर या सामने से दिखने वाले कुछेक संदेश या सूचनाएँ भर नहीं हैं, बल्कि वे कई और संकेत करती हैं ... तत्कालीन समाज की संरचना, परम्परा, मानसिकता और मूल्यों का भी आभास कराती हैं, शर्त यह है कि उन्हें आर-पार देखे जाने की एक दृष्टि हमारे पास हो। निष्कर्ष यह कि हर देखे जा रहे दृश्य के पार्श्व में कई और दृश्य हो सकते हैं, जिन्हें देखने के बाद विश्लेषण करने की एक विशिष्ट दृष्टि भारतीय समाज-विज्ञान को विकसित करने की ज़रूरत है। यह गम्भीर और अलग क़िस्म की सभ्यता-समीक्षा है, जिसमें वैविध्य है, पर दृश्य-संस्कृति के सुचिंतित अध्ययन का आह्वान केंद्रीय भाव है। गम्भीर बहस को समर्पित ऐसी किताब की छपाई में भाषा और वर्तनी की कुछ भूलें अगर न होतीं तो और अच्छा होता।

सामान्यतः तिरंगे झण्डे के बारे में चर्चा करना राष्ट्र या राष्ट्रवाद के विमर्श में उतरना माना जाता रहा है, पर सदन झा तिरंगे की जाँच-पड़ताल में एक राष्ट्र और उसके प्रतीक के बीच के फ़र्क़ को रेखांकित करते हैं। तिरंगे पर उनकी दृष्टि एकांगी नहीं है, वे उसके पार्श्व की उन तमाम घटनाओं-परिघटनाओं का ऐतिहासिक परिदृश्य खँगालते हैं, जहाँ से झण्डे के देखे जाने में एक राष्ट्र की संकल्पना से जुड़े मूल्यों, मान्यताओं, आस्थाजन्य स्थापनाओं की विविध छवियाँ आकार लेती दिखाई देती हैं। झण्डे के इतिहास की पड़ताल करते हुए लेखक ने संविधान सभा की बहस के बहाने कई अंतर्विरोधों के साथ बाह्य-विरोधों का भी ज़िक्र किया है।